वार्षिक सदस्यता शुल्क - रु. २५/-

September - 2024

स्वानुभूतिप्रकाश

प्रकाशक :
श्री सत्श्रुत प्रभावना ट्रस्ट
भावनगर - ३६४ ००१.

कहान रत्नसागरके अनमोल मोती.....

काल आने पर वर्षा होती है, वृक्ष अंकुरित होते हैं, चन्द्र खिलता है, पशु-पक्षी घर लौटते हैं, स्वातिनक्षत्रके कालमें सीपमें पानीकी बूँद जाने पर मोती बन जाती है, उसी प्रकार उत्तम देव-गुरुके महान योगकालमें तू आया और पूज्य पदार्थ अनुभवमें न आये वह तो अजब तमाशा है! (४३)

*

हे भव्य! तू शरीरको न देख! रागको न देख! एक समयकी पर्यायको न देख! तेरे पास तो अपना पूर्णानन्द प्रभु विद्यमान है उसे देख! अरे भगवान! तेरा पूर्णानन्द स्वरूप समीप ही होने पर वह दूर कैसे रह सकता है? इस प्रकार दिगम्बर संतोंकी वाणी गर्जना करती-चमकती हुई आ रही है कि तेरे समीप ही तेरा प्रभु विद्यमान है उसे तू आज ही देख! आज ही स्वीकार करके हाँ कह! हाँ कहते ही हालत बदल जाय ऐसा तू पूर्णानन्दका स्वामी है। (६६)

*

अरे प्रभु! तुझमें प्रभुता विद्यमान है, तू स्वयं ही प्रभु है! तेरे उदयमें परमात्मपना विद्यमान है, उसमें से संसारकी उत्पत्ति हो ऐसी शक्ति ही तुझमें नहीं है। तुझमें तो केवली उत्पन्न होनेकी खान है। (९३)

*

('द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर'में से साभार उद्धृत)

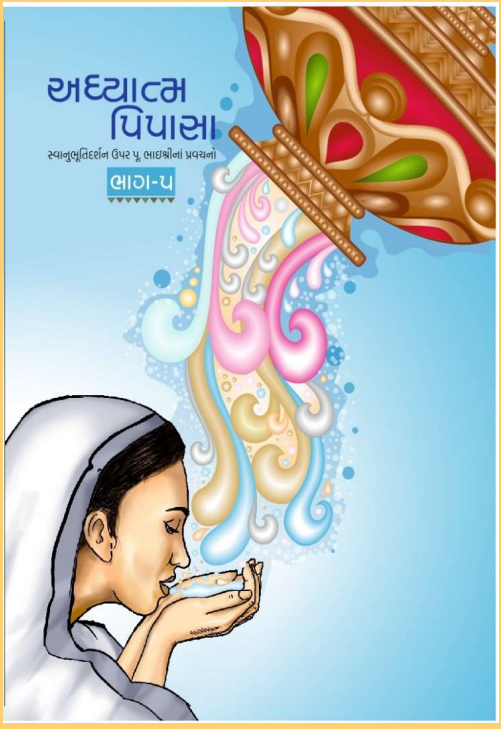

नया प्रकाशन (सिर्फ गुजराती भाषामें)

'अध्यात्म पिपासा' (भाग-५)

प्रशममूर्ति धन्यावतार पूज्य बहिनश्रीकी तत्त्वचर्चाका ग्रंथ 'स्वानुभूतिदर्शन' पर अध्यात्मयोगी पूज्य भाईश्री शशीभाई के प्रवचनों की श्रृंखला 'अध्यात्म पिपासा' भाग-५ (केवल गुजरातीमें) पूज्य भाईश्री की ९२वीं जन्म जयंतिके अवसर पर दि : ०८-१२-२४ को प्रकाशित किया जायेगा। जो मुमुक्षु गुजराती भाषा से परिचित हों और इसके स्वाध्याय के लिये इच्छुक हों वे अपनी प्रत दि: ३०-११-२४ तक रजिस्टर करवा लें।

- श्री सत्श्रुत प्रभावना ट्रस्ट

श्री नीरव वोरा ९८२५०५२९१३

स्वानुभूतिप्रकाश

वीर संवत्-२५५०, अंक-३२१, वर्ष-२६, सितंबर-२०२४

श्रावण शुक्ल १०, बुधवार, दि. २७-७-१९६६, योगसार पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन अंश, गाथा-१०६ से १०८ प्रवचन-४५

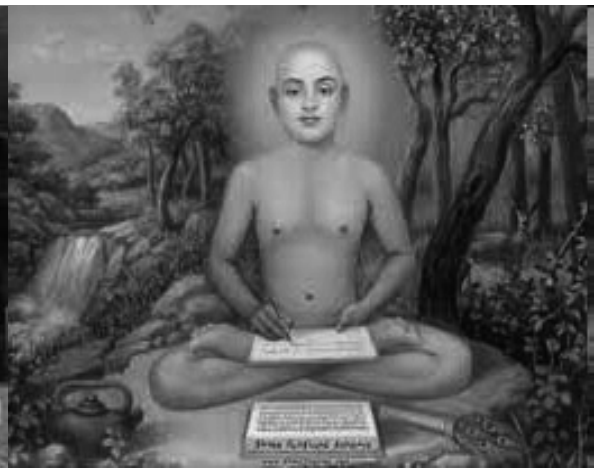

यह योगसार शास्त्र है। १०६ गाथा चलती है। परमात्मा का स्वरूप बहुत वर्णन किया न? जिन, शंकर, ईश्वर, ब्रह्मा, विष्णु, इत्यादि बहुत; और पाँच परमेष्ठी का स्वरूप वर्णन किया। उसमें यह कहा कि **'इस प्रकार ऊपर कहे हुए लक्षणों से लक्षित जो परमात्मा निरंजनदेव है....'** **'एव हि लक्खण-लक्खियउ'** परमात्मा, जिसका यहाँ वर्णन किया, पाँच परमेष्ठी अथवा ब्रह्मा आदि - ये सब परमात्मा के स्वरूप के लक्षणवाले हैं। **'तथा जो अपने शरीर के अन्दर बसनेवाला आत्मा है, इन दोनों में कोई भेद नहीं है।'** **'देहहँ मज्झहिं सो वसइ, तासु ण विज्जइ भेउ'** व्यवहार से पर्याय में, राग में, निमित्त के संयोग में भेद होने पर भी, आत्मा में कर्म के निमित्त के सम्बन्ध में विचित्रता-विविधता अवस्था में होने पर भी, उस दृष्टि को बन्द रखकर, उस लक्ष्य को बन्ध रखकर, वह है अवश्य, उसका ज्ञान रखना। समझ में आया?

भगवान आत्मा की वर्तमान दशा में कर्म के निमित्त के वश अनेक प्रकार की विविधता और विचित्र दशाएँ एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के बहुत प्रकार (पड़ने पर भी) उस लक्ष्य को उस दृष्टि को लक्ष्य में रखने पर भी, उसे भूलकर एक आत्मा परमात्मस्वरूप हूँ, वस्तुदृष्टि द्रव्यस्वभाव असली चैतन्यबिम्ब आत्मा, वह परमात्मा है - ऐसा साधकजीव को धर्मात्मा को आत्मा की निश्चयदृष्टि करना। समझ में आया?

भगवान परमात्मा में और मुझ में कुछ भेद नहीं है; भेद है, वह व्यवहारनय के विषय में जाता है। समझ में आया? वस्तुस्वरूप से चिद्घन आनन्दकन्द आत्मा को एकरूप दृष्टि से देखने से वह भेद परमात्मा और इसमें दिखता है, वह व्यवहार से है; वस्तु की दृष्टि से भेद है नहीं। इस प्रकार आत्मा को देखना। फिर अन्त में है, देखो!

'समभाव ही मोक्ष का उपाय है। यह भाव (समभाव) लाने के लिए साधक को व्यवहारदृष्टि से भेद है...' उसने स्वयं ऐसा डाला है। **'ऐसा जानने पर भी, ऐसा धारणा में रखने पर भी इस दृष्टि का विचार बन्द करके, निश्चयदृष्टि से अपने आत्मा को और सर्व संसारी आत्माओं को देखना चाहिए।'** अपने आत्मा को जिस प्रकार व्यवहार के भेद गौण करके... अभाव करके नहीं, वस्तु के स्वभाव को अभेदरूप देखना - ऐसे ही दूसरे आत्माओं को भी इस प्रकार देखना। यह आत्मा है, यह तो शुद्ध आनन्दघन ही सब है - ऐसी दृष्टि करके **'अपने आत्मा को और सर्व संसारी आत्माओं को देखना चाहिए। एक समान शुद्ध निरंजन निर्विकार पूर्ण ज्ञान-दर्शन, वीर्य और आनन्दमय अमूर्तिक असंख्यात प्रदेशी....'** यह असंख्यात प्रदेश तो समझाया है। असंख्य प्रदेश... असंख्य प्रदेश... यह भी एक भेद है परन्तु वस्तु ऐसी है - ऐसा ज्ञान व्यवहार से होने पर भी, अन्तर में एक ज्ञानाकार देखना। वस्तु एक ज्ञानस्वरूप ही चैतन्यबिम्ब है - ऐसा अन्तरदृष्टि से देखना, जानना, अनुभव करना। समझ में आया? **'उसे ही परमदेव मानना....'** ऐसा विशेष, फिर अपनी बात थोड़ी की है।

समाधिशतक की थोड़ी बात की है। **'जो कोई अपने शुद्धस्वरूप के अनुभव से छूटकर परभावों में आत्मपने की बुद्धि करता है....'** भगवान आत्मा ज्ञाता-दृष्टा शुद्ध ब्रह्म आनन्दकन्द है - ऐसी दृष्टि छोड़कर, वर्तमान अल्पज्ञ पर्याय में और पुण्य-पाप के परिणाम में आत्मबुद्धि करता है, वह स्वरूप से भ्रष्ट होता है। समझ में आया? **'अपने में कषाय जागृत करता है....'** ऐसी बुद्धि करने में कषाय की उत्पत्ति करता है। मिथ्यात्व, मोह कषाय अर्थात् मिथ्यात्व कषाय है। अपना स्वभाव शुद्ध चैतन्यधाम है, उसे भूलकर अकेले व्यवहार के पक्ष में अपने आत्मा को स्थापित करता है, उसे मिथ्यात्वरूपी कषाय का भाग लग जाता है, उसे मिथ्यात्व उत्पन्न होता है। समझ में आया? **'मूर्ख बहिरात्मा इस दृश्यवान जगत के प्राणियों को तीन लिंगरूप - स्त्री, पुरुष, नपुंसक देखता है....'**

मुमुक्षु - असंख्य प्रदेश तो स्वभाव है।

उत्तर - वह भी एक कहा, स्वभाव है परन्तु असंख्य प्रदेश - ऐसा लक्ष्य न करना, ज्ञान करना।

मुमुक्षु - स्वभाव से तो असंख्य प्रदेशी है।

उत्तर - है तो सही। द्रव्यदृष्टि से देखना, ऐसा। असंख्य प्रदेशी तो है परन्तु उसे ज्ञान में रखना; अभेद में यह असंख्य प्रदेशी है - ऐसा नहीं। विकल्प नहीं, भेद है न! अन्तर अभेद में नहीं, यह पहले कहा था। असंख्य प्रदेश भले इन्होंने लिखा है परन्तु वास्तव में तो एक प्रदेशी ही गिनने में आया है, लो! आता है न? पंचास्तिकाय! पंचास्तिकाय में ऐसा लिया है। एक प्रदेशी अर्थात् एकरूप, ऐसा। ऐसा लिया है। असंख्यप्रदेश हैं अवश्य, हाँ! यह वस्तु है। निश्चय से ऐसी है परन्तु असंख्य प्रदेश का ख्याल छोड़कर, एक प्रदेशी - एक स्वरूप - ऐसा पंचास्तिकाय में लिया है। एक प्रदेशी... एक प्रदेशी अर्थात् एकरूप, बस! ऐसा लिया है। असंख्य प्रदेश ख्याल में आवे तो विकल्प उठते हैं, भेद रहता है। समझे? है न कहीं असंख्य प्रदेश का? कहाँ है?

पंचास्तिकाय देखो, है। पहली लाईन है न? ३१ (गाथा) **'जीव वास्तव में अविभागी एक द्रव्यपने के कारण लोकप्रमाण एक प्रदेशवाले हैं।** हैं न? **'जीवा अविभागैकद्रव्यत्वाल्लोक-प्रमाणैकप्रदेशाः'** एक ओर लोकप्रमाण परन्तु एक प्रदेश.... वस्तु अभेद, ऐसा। पंचास्तिकाय ३१ वीं (गाथा) है।

अगुरुलहुगा अणंता तेहिं अणंतेहिं परिणदा सव्वे।
देसेहिं असंखादा सिय लोगं सव्वमावण्णा।। ३१।।

'अमृतचन्द्राचार्य' ने टीका लिखी है। असंख्य यह तो भेद हो गया, व्यवहार (हुआ) वापिस भेद हो गया। इसलिए असंख्य नहीं - ऐसा नहीं और कोई यह कहे कि यह असंख्य है, यह तो व्यवहार ही है - ऐसा प्रश्न उठता है। बहुत वर्ष पहले एक भाई ने प्रश्न किया था, हंसराजभाई। अभ्यासी थे न, अमरेली। बहुत वर्ष हुए (संवत्) १९७९ के साल की बात है, १९७९ वे कहें,

आत्मा को असंख्यप्रदेश है नहीं, वह तो व्यवहार है। कहा, वह व्यवहार नहीं, वह असंख्य प्रदेश यथार्थ है परन्तु असंख्य प्रदेश का भेद - विचार करना, वह व्यवहार है। वस्तु असंख्य (प्रदेशी) नहीं है - ऐसा नहीं है। फिर तो जैसे वेदान्त कहते हैं - ऐसा हो जाता है। ऐसा नहीं है। है असंख्यप्रदेशी; एक-एक अंश उसके असंख्य प्रदेश हैं। लोक के आकाश के प्रदेश जितने इसके प्रदेश हैं परन्तु इन असंख्य पर लक्ष्य जाने से भेद रहता है; इस कारण उसे एक प्रदेशी समूहरूप से गिनकर एक प्रदेशी कहा है। इससे असंख्य प्रदेश चले गये हैं - ऐसा नहीं है।

(ऐसा कोई कहता है कि) यह असंख्य कहा, वह तो व्यवहार से... व्यवहार से अर्थात् मिथ्या। ऐसा नहीं है। समझ में आया? हमारे तो यह चर्चा बहुत होती थी न। सम्प्रदाय में बहुत (चर्चा हुई है)। उन हंसराजभाई को वांचन बहुत था, अमरेली। संस्कृत पढे.हुए, वांचन (अवश्य) परन्तु कुछ नहीं। यह असंख्य प्रदेशी कहा है, वह तो कल्पना है, वह व्यवहार है - ऐसा नहीं है। असंख्य प्रदेश, निश्चय से असंख्य प्रदेश हैं परन्तु असंख्य के भेद का विचार करना, वह विकल्प और व्यवहार है, इस अपेक्षा से एक प्रदेशी कहा गया है। यह पंचास्तिकाय उन ने पढा अवश्य न! वे पढते थे। यहाँ है न, लोकप्रमाण एक प्रदेशी क्या कहा? लोकप्रमाण, लोकप्रमाण तो कह दिया। संस्कृत पाठ है देखा न! - **'अविभागैकद्रव्यत्वाल्लोकप्रमाणैकप्रदेशाः'** वस्तु निश्चय से है।

जैसे आकाश, अनन्त प्रदेशी निश्चय से है; धर्मास्ति, असंख्य प्रदेशी निश्चय से है। यह शक्ति में भी आता है न? भाई! सैंतालीस शक्ति में आता है। नियतप्रदेशत्व, नियतप्रदेशत्व एक शक्ति है। सैंतालीस शक्तियों में नियतप्रदेशत्व शक्ति है। यह असंख्य प्रदेश नियतप्रदेशत्व है परन्तु असंख्य का जहाँ लक्ष्य लेने जाये वहाँ भेद उठता है, इसलिए उसे असंख्य का भेद लक्ष्य करने से व्यवहार (कहा है) वस्तु व्यवहार नहीं, वस्तु तो असंख्य प्रदेशी वस्तु है। आहा...हा...!

जैनदर्शन की वस्तु ऐसी है कि उसे जिस प्रकार कही है और उस प्रकार है। आत्मा में अनन्त गुण नहीं? परन्तु अनन्त गुण हैं ऐसा, भेद करने जाये वहाँ विकल्प उठता है। एक रूप वस्तु है, इस कारण अनन्त गुण उसमें से चले गये हैं? द्रव्य एक है, इसलिए अनन्त गुण चले गये हैं? परन्तु अभेद में अभेद दृष्टि से देखने पर भेद दिखाई नहीं देता। अभेद में भेद नहीं - ऐसा नहीं परन्तु अभेद में देखने से भेद दिखाई नहीं देता क्योंकि भेद देखने जाये, वहाँ विकल्प उठते हैं और अभेद में नहीं रहता। बात यह है। समझ में आया?

नियतप्रदेशत्व, है न? शक्ति है, हाँ! एक की एक बात आचार्यों ने तो ओ...हो...! सत् को बहुत प्रसिद्ध किया है, स्पष्ट किया है। देखो, **'जो अनादि संसार से लेकर संकोच-विस्तार से लक्षित है और जो चरमशरीर के परिमाण से किंचित् न्यून परिणाम से अवस्थित होता है - ऐसा लोकाकाश के माप जितना मापवाला आत्म अवयवपना....'** अवयवपना, संस्कृत टीका में है, हाँ! **'अवयवपना जिसका लक्षण है - ऐसी नियतप्रदेशत्व शक्ति (आत्मा के लोकपरिमाण असंख्य प्रदेश नियत ही है। वे प्रदेश संसार अवस्था में संकोच-विस्तार पाते हैं और मोक्ष अवस्था में चरम शरीर से किंचित न्यून परिमाण से स्थित रहते हैं)।'** (२४)। 'नियत' शब्द प्रयोग किया है, हाँ! नियतप्रदेशत्व शक्ति एक है।

आत्मा में नियतप्रदेशत्व नाम का एक गुण है कि जो नियत असंख्य प्रदेशी निश्चय से है परन्तु असंख्य प्रदेश ऐसे हैं - ऐसा भेद करने जाये वहाँ विकल्प उठते हैं, इसलिए उसे गौण कर देना। वस्तु चली नहीं गयी, वस्तु तो असंख्य प्रदेशी ही है। यहाँ 'नियतप्रदेश' (शब्द) प्रयोग किया है। नियतप्रदेशत्व शक्ति - ऐसा शब्द प्रयोग किया है। सैंतालीस शक्ति में है। कहो, इसमें समझ में आया? जैन को दूसरे अन्य के साथ मिलाने को कितने ही गड़बड़ करते हैं। यह तो असंख्य प्रदेश कहे हैं, वह व्यवहार से कहे हैं। समझे न? ऐसा नहीं है। असंख्य

प्रदेश निश्चय से है परन्तु उनका - असंख्य प्रदेशों का लक्ष्य करने जाये, वहाँ व्यवहार-विकल्प उठता है, इस अपेक्षा से असंख्य का लक्ष्य नहीं करना, एक का करना। इससे एक का लक्ष्य करने से असंख्य नहीं हैं, व्यवहार से कहे थे इसलिए, अभूतार्थ नय से कहे थे - ऐसा नहीं है। अद्भुत बात, भाई! समझ में आया? सूक्ष्म बहुत इसमें, छोटूभाई! बहुत सूक्ष्म, भाई! यह दया पालना, ईर्या.... वीया मिच्छामिदुक्कडम करना, वह यह बात नहीं है। आहा...हा...!

असंख्य प्रदेश में अनन्त गुण व्यापक हैं - ऐसे एक-एक प्रदेश में अनन्त... अनन्त... अनन्त... ऐसे बिछे हुए हैं। तिरछे... तिरछे... तिर्यक प्रचय ऐसे असंख्य प्रदेश। और ९९ वें में लिया है न? भाई! ९९ वें गाथा, प्रवचनसार... बताना है तो उस पर्याय को, परन्तु वहाँ दृष्टान्त दिया है - एक प्रदेश में दूसरे प्रदेश का अभाव है। एक दूसरे प्रदेश में तीसरे प्रदेश का अभाव है। व्यतिरेक। इस प्रकार असंख्य प्रदेश हैं। ९९ वीं गाथा, ज्ञेय अधिकार। आत्मा का ज्ञेयपना कितना है - ऐसा सिद्ध करना है। समझ में आया? परन्तु ऐसे असंख्य यह संख्या जहाँ लक्ष्य में लेने जाये, उसमें विकल्प उठते हैं। आहा...हा...! भीखूभाई! यह सूक्ष्म बात है। इस दुकान में पूरे दिन धन्धा... धन्धा... धन्धा उसमें कठिनता से किसी दिन सुने उसमें - ऐसा आवे, उसमें ऐसा सूक्ष्म आवे। कहते हैं, हम मुश्किल से आये वहाँ से दुकान छोड़कर.... परन्तु समझने का यह है। कुछ समझ में आया?

(यहाँ पर) समाधिशतक में (कहते हैं) भगवान! **'ज्ञानी इस जगत का निश्चय से एक समान शब्दरहित वह निश्चय ज्ञाता है।'** लिंग-विंग नहीं। यह स्त्रीलिंग, पुरुषलिंग और नपुंसक, भावभेद और भावभेद में अन्तर यह भी नहीं। वह तो पर्याय है, वस्तुरूप से एकाकार भगवान आत्मा ज्ञाता-दृष्टा परमस्वभावस्वरूप एक है - ऐसी दृष्टि करने से सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र प्रगट होता है। समझ में आया? भेद को लक्ष्य में रखना, भूल न जाना। भूल अर्थात् वह नहीं है - ऐसा नहीं है परन्तु व्यवहार का अभाव करके निश्चय करना - ऐसा नहीं। व्यवहार को गौण करके निश्चय करना - ऐसी वस्तु है। अभाव करे तो वह वस्तु नहीं - ऐसा हुआ। आहा...हा...! वीतराग शासन ऐसा है। भाई! १०६ (गाथा पूरी) हुई। लो!

आत्मा का दर्शन ही सिद्ध होने का उपाय है

जे सिद्धा जे सिज्झिहिहिं जे सिज्झहि जिण-उत्तु।
अप्पा-दंसणि ते वि फुडु एहउ जाणि णिभंतु।।१०७।।

सिद्ध हुये अरु होंयगे, हैं अब भी भगवन्त।
आतम दर्शन से हि यह, जानो होय निःशङ्क।।

अन्वयार्थ - (जिण उत्तु) श्री जिनेन्द्र ने कहा है (जे सिद्धा) जो सिद्ध हो चुके हैं (जे सिज्झिहिहिं) जो सिद्ध होंगे (जे सिज्झहि) जो सिद्ध हो रहे हैं (ते वि फुडु अप्पा दंसणि) वे सब प्रगटपने आत्मा के दर्शन से हैं (एहउ णिभंतु जाणि) इस बात को सन्देह रहित जानो।१०७।

'आत्मा का दर्शन ही सिद्ध होने का उपाय है।' लो, इसमें से थोड़ा अर्थ चाहिए हो तो, इसमें थोड़ा अर्थ है, थोड़ा शब्दार्थ है। यह परमात्मप्रकाश का है, दूसरा अलग किया है।

जे सिद्धा जे सिज्झिहिहिं जे सिज्झहि जिण-उत्तु।
अप्पा-दंसणि ते वि फुडु एहउ जाणि णिभंतु।।१०७।।

ओ...हो...हो...! **'श्री जिनेन्द्र ने कहा है....'** देखो! भगवान योगीन्द्रदेव आचार्य भी भगवान को बीच में लाते हैं। भाई! परमात्मा तो ऐसा कहते हैं। जिनेन्द्रदेव वीतराग परमेश्वर, जिन्हें पूर्ण ईश्वरता पर्याय में प्रगट हो गयी है - ऐसे जिनेन्द्र प्रभु ऐसा **'उत्तु'** ऐसा **'उत्तु'** - ऐसा कहते हैं। **'जो सिद्ध हो गये हैं....'** अभी जितने सिद्ध अनन्त हुए और **'जो सिद्ध होंगे....'** भविष्य में सिद्ध होंगे। देखो! तीन काल ले लिये और **'जो सिद्ध हो रहे हैं...'** महाविदेहक्षेत्र में वर्तमान में सिद्ध हो रहे हैं। समझ में आया? महाविदेहक्षेत्र में छह महीने और आठ समय मुक्ति कहीं बन्द नहीं हो गयी है। भरत और ऐरावत में नहीं है तो वहाँ छह महीने और आठ समय में छह सौ

आठ (जीव) मुक्ति को प्राप्त करते हैं।

जो कोई अनन्त सिद्ध हुए, जो अनन्त सिद्ध होंगे, इससे अनन्तगुने हुए, ऐसा होने पर भी वस्तु तो इतनी की इतनी एक शरीर के अनन्तवें भाग में... समझ में आया? **'वे सर्व प्रगट रूप से...'** यह। **'ते वि फुडु फुडु - प्रगटरूप से आत्मा के दर्शन से है।'** आत्मा के दर्शन से मुक्ति प्राप्त हुए हैं। अनन्त सिद्ध हुए, वे भगवान आत्मा का अनुभव करके प्राप्त हुए हैं। आत्मदर्शन। भेददर्शन, व्यवहार दर्शन - ऐसा नहीं। आत्मदर्शन, एक समय में पूर्ण प्रभु, वह अनन्त गुण का धाम एक रूप, उसका दर्शन करके अर्थात् अनुभव करके; जो अनन्त सिद्ध हुए, वे अनुभव से हुए; अनन्त सिद्ध होंगे, वे अनुभव से होंगे; अभी सिद्ध होते हैं, वे अनुभव से सिद्ध होते हैं। समझ में आया? तीन काल लक्ष्य में ले लिये। ओहो...हो...! तीनों काल में एक ही मार्ग है - ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु - ज्ञान, चारित्र कहाँ गये?

उत्तर - वे इसमें - दर्शन में आ गये। आत्मा पूर्णानन्द प्रभु का दर्शन हुआ, वहाँ ज्ञान भी सम्यक् हुआ, प्रतीति सम्यक् हुई और स्वरूपाचरण की स्थिरता शुरू हो गयी। चौथे गुणस्थान से अनुभव शुरू हो जाता है। आहा...हा...! यह सब बातें पण्डितजी को सब पता है। वहाँ से अलग पड़कर निकले हैं न! बहिन भी एक बार नहीं कहती थीं? ऐसा कुछ कहती थीं। मैंने कहा, उनसे अलग क्यों पडे.? एक बार तुम ऐसा बोलते थे, एक ओर वे निकल गये। रतनचन्दजी साथ में रहते थे न? तुम यहाँ बोले थे, रास्ता अलग हो गया। साथ रहते थे... मार्ग तो बापू! यह है वही है। आहा...हा...! समझ में आया? चौथे गुणस्थान से,.... स्वयं आगे कहेंगे, हाँ! देखो! यहाँ है। स्वयं कहेंगे।

मुमुक्षु - .....

उत्तर - द्रव्यदृष्टि से ऐसा भेद भी नहीं, यह आनन्द है - ऐसा भेद भी नहीं। दृष्टि का विषय ऐसा द्रव्य में नहीं। ज्ञान के अखण्ड में भी नहीं, ज्ञान के ज्ञेय के अखण्ड में भी भेद नहीं और दर्शन की द्रव्यदृष्टि में भेद नहीं। यह आनन्द, यह तो समझाना है, वरना आनन्दमय है; एक भिन्न गुण से देखना वह व्यवहार है। यह तो समझाने की विधि है कि एक ज्ञायक है। अनन्त गुण आ जाते हैं। प्रवचनसार में आया है, नहीं? एक असाधारण ज्ञानगुण को कारणरूप से ग्रहण करके... ऐसा आया है। प्रवचनसार। कैसे सिद्ध होता है? अन्तिम अधिकार। एक असाधारण ज्ञानस्वभाव को कारणरूप ग्रहण करके जो कार्यरूप दशा को प्राप्त हुए हैं। ऐसा प्रवचनसार है। शास्त्र में तो सब बात (आयी है)। लिखा है ज्ञान! समझ में आया? कितने में है? ए...ई...! थोड़ा लिख रखना चाहिए, मुँह के आगे। अपने यह बात हो गयी है।

एक असाधारण ज्ञान को ग्रहण करके.... इक्कीस गाथा - **'इन्द्रियों के अवलम्बन से अवग्रह-ईहा-अवाय पूर्वक क्रम से केवली भगवान नहीं जानते, (किन्तु) स्वयमेव समस्त आवरण के क्षय के क्षण ही, अनादि अनन्त, अहेतुक और असाधारण ज्ञानस्वभाव को ही कारणरूप ग्रहण करने से...'** यह संस्कृत टीका है, हाँ! अनादि अनन्त (अर्थात्) भेद नहीं। अहेतुक - कोई हेतु नहीं, असाधारण (अर्थात्) दूसरा गुण नहीं। इस **'ज्ञानस्वभाव को ही कारणरूप ग्रहण करने से तत्काल ही प्रगट होनेवाले केवलज्ञानोपयोगरूप होकर परिणमित होते हैं;...'** ज्ञान से हुआ परन्तु इससे यह ज्ञान ऐसा भी नहीं। यह भेद हो गया। समझाने के (लिए ऐसा कहा)। ज्ञान परमभाव है न! यह ज्ञायक है, ऐसा होने से असाधारण, जो दूसरा नहीं - ऐसा गुण... ऐसे असाधारण गुण को अहेतुक को, अनादि-अनन्त को कारणरूप ग्रहण करके अर्थात् विकल्प आदि के व्यवहार को कारण (रूप) ग्रहण करके केवलज्ञान होता है - ऐसा नहीं है। यह अन्दर असाधारण ज्ञान आनन्दस्वरूप एकरूप को कारणरूप ग्रहण करके ऊपर... अर्थात् पर्याय में केवलज्ञानरूप होकर परिणमित हो जाता है। देखो! है न?

*

(शेष प्रवचन अगले अंकमें..)

श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक-१०३ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईका दि. ०७-०८-९८ कोलकातामें हुआ प्रवचन

पत्रांक - १०३

बंबई, माघ, १९४६

कुटुंबरूपी काजलकी कोठरीमें रहनेसे संसार बढ़ता है। चाहे जितना उसका सुधार करें; तो भी एकांतवाससे जितना संसार क्षय होनेवाला है उसका सौवाँ हिस्सा भी उस काजलगृहमें रहनेसे नहीं होनेवाला है। वह कषायका निमित्त है; मोहके रहनेका अनादिकालीन पर्वत है। वह प्रत्येक अंतर गुफामें जाज्वल्यमान है। सुधार करते हुए कदाचित् श्राद्धोत्पत्ति होना संभव है, इसलिये वहाँ अल्पभाषी होना, अल्पहासी होना, अल्प परिचयी होना, अल्पसत्कारी होना, अल्पभावना बताना, अल्प सहचारी होना, अल्पगुरु होना, परिणामका विचार करना, यही श्रेयस्कर है।

(श्रीमद् राजचंद्र वचनामृत-पत्रांक-१०३)। पत्रा - २१२, **'कुटुंबरूपी काजलकी कोठरीमें रहनेसे संसार बढ़ता है।'** २३ वें सालमें ये वचनामृत लिखा है। एक काजलकी कोठरी हो उसमें कोई रहते हुए ऐसा चाहे कि, मुझे दाग नहीं लगना चाहिये! तो क्या वह मुमकिन है? नामुमकिन है। काजलकी कोठरीमें चारों तरफ काजल लगा हो - चार दिवार हो, ऊपर-नीचे सब तरफ (काजल लगा हो) और काजलके परमाणु बहुत उड़ रहे हो, ऐसेमें दाग लगे बिना कैसे रहेगा? वैसे कुटुंबमें रहना और संपूर्णतया दोषरूप दाग नहीं लगना, ये बनना नामुमकिन है।

शांतिनाथ, कुंथुनाथ, अरनाथ जैसे (भगवान) चक्रवर्तीपद, कामदेवपद जैसे वैभवशाली (पद पर बिराजमान थे)। परमज्ञानी तो थे ही फिर भी कुटुंब छोड़कर क्यों चले गये? उनके तो ऐसे पुण्य होते हैं कि, वे कुटुंबमें सबको बहुत प्रिय होते हैं। अभी हम लोग जैसे रहते हैं, ऐसे नहीं कि, बात-बातमें एक-दूसरेका मुँह बिगड़ जाये, बात-बातमें रूठ जाये और मुँह बिगड़ जाये, ऐसा नहीं होता। परन्तु वे तो सबको अति प्रिय होते हैं। इतने पुण्य लेकर आते हैं और कुटुंबियों उनका वियोग सहन नहीं कर सकें, (इतने प्रिय होते हैं)!

गुरुदेवश्री तो ऐसा कहते थे कि, उनकी रानियाँ कल्पांत करके अपने बाल खींच डाले, ऐसे रोती हैं। कैसे रोती हैं? कि, रोते-रोते सिरके बाल खींच डालती हैं। असह्य वेदना होती है कि, ऐसा व्यक्ति घरसे क्यों चला जाता है? क्योंकि इतने सर्वगुणसंपन्न होते हैं, इतने ज्ञानी! इतने वैरागी! इतने शांत! होते हैं। सारे लौकिकगुण तो होते ही हैं और अलौकिक गुण भी प्रगट किये होते हैं। उनके जो महल होते हैं, उनके आसपास बाग-बगीचे नहीं परन्तु वन-उपवन होते हैं! मीलों तक (फैले होते हैं)। बादमें दूसरे लोगोंकी जमीन, बाड़ी, खेत आदि शुरू होते हैं। वे चाहें तो सारी व्यवस्था बिठा सकते हैं कि, मैं महलमें नहीं रहूँगा बल्कि झोंपड़ीमें रहूँगा। मेरे लिये झोंपड़ी बना दो! (उनकी स्त्रियाँ, कुटुंबियों, नौकर-चाकर सभी ऐसा कहेंगे कि), कम से कम हमारी नजरके सामने तो रहोगे!

संयोगका सवाल नहीं है परन्तु सवाल खुदके परिणामोंका है। उन्हें दर्शनमोह तो व्यतीत हो चुका है। ऐसे महान पुरुषोंको तो दर्शनमोह होता नहीं; वे तो पूर्वभवसे ही (आत्मज्ञान) लेकर आये हैं। अत: ज्ञान सहित ही उनका जन्म हुआ है। तीन ज्ञान सहित जन्म लेते हैं। मति-श्रुत और सम्यक् अवधिज्ञान - ऐसे तीनों ज्ञान उन्हें होते हैं। फिर भी कुटुंबको काजलकी कोठरी जानते हैं। इसलिये सर्वसंग परित्याग करके निकल जाते हैं। विषय तो मुनिदशाका है, परन्तु २३ वें सालमें कृपालुदेवके विचार ऐसे हैं और अभिप्राय ऐसा है! मुमुक्षुकी भूमिकामें यह अभिप्राय बन जाता है। फिर (ज्ञानीको) कुटुंबमें जितना चारित्रमोह रहता है - मोह होता है, तब तक कुटुंबमें रहते हैं। जैसे ही यह मोह खतम हुआ, कि फिर (कुटुंबके बीच) नहीं रह सकते। उन परिणामोंको वे सहन नहीं कर सकते। कुटुंबके प्रति दर्शनमोह रहित सिर्फ चारित्रमोहके परिणामोंको भी जब वे सहन नहीं कर सकते हैं तब छोड़ देते हैं। भले ही वह मोह अल्प था फिर भी वह अल्प मोह भी नहीं पुसाता है। क्योंकि उन्हें पूर्ण वीतराग होना है। अत: वे स्पष्ट कह देते हैं कि, 'मुझे जब तक रागका-विकल्पका अंश चलता था और जब तक वह जिंदा था तब तक तो मैं आपके साथ रहा, लेकिन अब वह राग मर गया। अब मैं रह सकूँ, ऐसी मेरी परिस्थिति नहीं है।' अल्पकालमें केवलज्ञान लेनेवाले हैं। भीतरसे पुरुषार्थ उछल रहा है। (इसलिये ऐसा लगता है कि), यहाँ रहकर काम नहीं होगा। ऐसा स्पष्ट खयाल आता है इसलिये सर्प जैसे केंचुली छोड़ता है वैसे छोड़कर निकल जाते हैं। तेजीसे निकल जाते हैं। किसको क्या होगा? किसकी ममताको कितनी ठेस पहुँचेगी? (ये देखनेके लिये नहीं रुकते), क्योंकि वीतरागतामें यह बात नहीं रहती।

जब तक अज्ञानदशा है, जब तक कुटुंब प्रतिबंध है, कुटुंबके सदस्योंके प्रति अपनत्व है या कुटुंबके व्यक्ति अपने दिखते हैं - ऐसी अनादिसे जो नज़र है उसे नहीं बदली, नज़र बदलकर वे सब पराये नहीं दिखते, तब तक तो (कुटुंबरूपी कोठरी) संसार बढ़नेका ही कारण है। परिभ्रमण बढ़नेका ही कारण है।

कृपालुदेवने संसार परिभ्रमणके दो कारण स्पष्ट बताये हैं - एक स्वच्छंद और दूसरा प्रतिबंध। यदि अपने दोष अपक्षपातरूपसे देखे - देख सके, ऐसी भूमिकामें आये तो स्वच्छंद थोड़ा-बहुत दबता है। और प्रतिबंध जो है उसे तो छोड़ना ही होगा। फिर चाहे वह समाजका प्रतिबंध हो तो भी छोड़ देना। समाज क्या कहेगा? यह बात छोड़ देनी। अथवा किसी भी दूसरेकी नज़रमें अच्छा दिखानेकी वृत्ति अथवा अभिप्राय (होना) यह समाज प्रतिबंध है। आबरू-कीर्ति अच्छी रहे, दिखाव अच्छा रहे, शरीरका दिखाव अच्छा रहे, वर्तनका दिखाव अच्छा रहे और दूसरेकी नज़रमें अच्छे दिखायी दे - ये समाज प्रतिबंध है। समाज प्रतिबंध कहो, लोकसंज्ञा कहो, तीव्र परलक्ष कहो या स्वलक्षसे दूर जानेका प्रयोग कहो - ये सब एक ही है। कृपालुदेवने दूसरे पत्रमें लोकसंज्ञाको कालकूट ज़हर कहा है। कैसा कहा है? कालकूट ज़हर - कातिल ज़हर। ज़हरसे कितना दूर रहना चाहिये? कि उसकी सीलबंद बोतलको भी हाथ लग गया हो तो आदमी तीन बार साबुनसे हाथ धो लेगा! ढक्कन भी नहीं खोला हो और बोतल भी सीलबंद हो, फिर भी अगर एक जगहसे दूसरी जगह हाथसे रखी हो तो भी तीन बार साबुनसे हाथ धो लेगा! इतना डर लगता है। ज़हरसे इतना डर लगता है! मुमुक्षुजीव लोकसंज्ञासे इतना ही भयभीत होना चाहिये और इतना ही कुटुंब प्रतिबंधसे भयभीत होना चाहिये।

कुटुंबमें अपनत्वकी मिठास वह मीठा ज़हर है। कैसा है? मीठा ज़हर है। इतना मीठा लगेगा कि, मालूम तक नहीं पड़ेगा (कि यह ज़हर है)! सेक्रीन लगाई हुई छुरी हो उसे जीभ पर लगाई जाये तो मीठी लगेगी

लेकिन जीभ कट जायेगी! धार इतनी तीक्ष्ण होती है कि चखने जायेगा कि, कितनी मीठी है? मीठी तो जरूर लगेगी क्योंकि उस पर सेक्रीन लगाया है, लेकिन जीभ कट जायेगी। ये कुटुंब प्रतिबंध ऐसा है। कृपालुदेवने ५३७ पत्रमें तो स्पष्टरूपसे नरक, निगोदका ही कारण कहा है। मुमुक्षुको ऐसा समझने योग्य है कि, मुझे कृपालुदेव आज्ञा कर रहे हैं कि, तू कुटुंब प्रतिबंध छोड़!

पत्र पढ़नेका या स्वाध्याय करनेका अर्थ क्या है? कि, इस पत्र पर चाहे जिसका भी नाम लिखा हो, स्वाध्याय करनेवालेको तो उस जगह अपनेको ही बिठा देना चाहिये, उस स्थानमें खुदको ले लेना चाहिये। तू जितना कुटुंब प्रतिबंध करेगा (परिभ्रमण) के अलावा उसका दूसरा कोई अंजाम नहीं है।

५३७ पत्रांक लिजीये! ४४२ पन्ने पर वाक्य लिखा है (वह देखें)। **'स्वप्नदशामें जैसे न होने योग्य ऐसी अपनी मृत्युको भी जीव देखता है, वैसे ही अज्ञानदशारूप स्वप्नरूप योगसे यह जीव अपनेको, जो अपने नहीं हैं ऐसे दूसरे द्रव्योंमें निजरूपसे मानता है; और यही मान्यता संसार है, यही अज्ञान है, नरकादि गतिका हेतु यही है,...'** इसका फल सीधा नरक ही बताया है। **'...यही जन्म है, मरण है, और यही देह है, देहका विकार है, यही पुत्र है, यही पिता, यही शत्रु, यही मित्रादि भावकल्पनाका हेतु है;...'** लिया है न? संसारके सारे संबंध लिये कि नहीं लिये? पुत्र, मित्र सब ले लिया। **'...और जहाँ उसकी निवृत्ति हुई वहाँ सहज मोक्ष है;...'** जैसे ही कुटुंबसे भिन्न हुआ कि उसका प्रतिबंध गया। भीतरसे भिन्न हुआ, बाहरसे भले ही मुमुक्षु संयोगमें रहा हो। लेकिन भीतरसे भिन्न हुआ तो सहज मोक्ष है। **'...और इसी निवृत्तिके लिये,...'** यानीकि इस प्रतिबंधको छोड़नेके लिये, **'...सत्संग, सत्पुरुष आदि साधन कहे हैं; और वे साधन भी, यदि जीव अपने पुरुषार्थको छिपाये बिना उनमें लगाये, तभी सिद्ध होते हैं।'** (ये साधन भी पुरुषार्थ करने पर ही) प्राप्त हुए (ऐसा कहा जायेगा), वरना नहीं। वरना वे साधन नहीं रहते। **'अधिक क्या कहें? इतनी संक्षिप्त बात यदि जीवमें परिणमित हो जाये तो वह सर्व व्रत, यम, नियम, जप, यात्रा, भक्ति, शास्त्रज्ञान आदि कर चुका, इसमें कुछ संशय नहीं है।'** कुटुंब प्रतिबंध छोड़ा तो (वह जीव) शरीर प्रतिबंध आसानीसे छोड़ेगा। क्यों? (क्योंकि) कुटुंब है वह शरीरको अनुकूलता देनेका निमित्त है। 'आपको दूध चाहिये? आपको पानी चाहिये? आपको खाना चाहिये? आपको अनुकूलता चाहिये? आपको ऐसे करना है? आपको वैसे करना है?' इस तरह सारी अनुकूलताएँ (मिल जाती हैं)। आपसमें एक-दूसरेकी (अनुकूलताएँ) बनाये रखते हैं कि नहीं? आपसमें स्नेह रखते हैं, आपसमें अनुकूलताएँ बनाये रखते हैं। इसलिये उसमें देहात्मबुद्धि-देह प्रतिबंध तो घुँटता ही है। लेकिन (जो) कुटुंब प्रतिबंध छोड़ता है उसे देह प्रतिबंध छोड़नेकी तैयारी हो जाती है। (वह कैसे)? कि, 'देहके लिये तो ज्यादासे ज्यादा उसकी अनुकूलता संबंधित विचार नहीं करना है, मुझे जैसे-कैसे भी चलेगा, मुझे कोई भी परिस्थिति मंजूर है। मैं उसे चला लूँगा।' (ऐसी तैयारी हो जाती है)। 'मुझे मेरा (आत्मकल्याणका) कार्य करना है। कहीं भी रहकर भी मुझे मेरा काम करना है। चाहे कोई भी स्थितिमें भी मुझे मेरा आत्मकल्याण करना है।' इस तरह देह प्रतिबंध आसानीसे छोड़ सकता है। फिर वह बंधन नहीं रहता। संकल्प-विकल्प प्रतिबंध जो है वह तो थोड़ा सूक्ष्म विषय है। जब तक भीतरमें रागका भी कर्तृत्व रहे, रागका भी एकत्व रहे, सूक्ष्म रागका भी एकत्व और कर्तृत्व रहे, तब तक विकल्प नहीं मिटता और निर्विकल्प दशा नहीं आती। वह प्रतिबंध तो आगे पुरुषार्थसे छूटता है। उसे छूटनेके लिये फिर ज्यादा अवरोधरूप कोई कारण नहीं रहता। जिसका कुटुंब प्रतिबंध और देह प्रतिबंध छूटा, उसे संकल्प-विकल्प

प्रतिबंध छोड़नेके पुरुषार्थमें फिर दूसरा कोई अवरोध नहीं रहता। मुख्यतया जीवका पुरुषार्थ अगर रुकता है तो वह इसमें रुकता है। यानी कि कुटुंब प्रतिबंधमें और देह प्रतिबंधमें (रुक जाता है)।

मुमुक्षु :- कुटुंबमें अनुकूलता हो उसमें जीव रुक जाये यह तो ठीक है, परन्तु अनुकूलता नहीं हो बल्कि प्रतिकूलता हो तो भी जीव वहाँ पर चिपका हुआ रहता है।

पूज्य भाईश्री :- बिलकुल ठीक बात है। धुतकारने पर भी छोड़ नहीं सकता। अनुकूलतामें तो फिसल ही जाता है, इसमें तो बहुत पुरुषार्थ करना पड़ता है, तो ही अनुकूलतामेंसे छूट सकता है। इसमें ज्यादा पुरुषार्थ चाहिये। जब कि प्रतिकूलतामें तो स्पष्ट समझमें आये ऐसी बात है कि, ये कोई मेरे सगे हैं ही नहीं। मैं मुफ्तका चिपक रहा हूँ, इतनी ही बात है। अत: उसमें तो स्पष्ट दिखे ऐसा है। क्योंकि बात-बातमें 'तू-तू, मैं-मैं' हो जाता है - 'तूने ऐसा किया और तूने वैसा किया, तू ऐसा कर रहा है और तू वैसा कर रहा है।' सगे स्वार्थके होते हैं - ये कुछ समझाना नहीं पड़ता और अभी तो प्राय: ऐसा होता है। कुटुंबके बीच स्नेह-प्रेम हो ऐसे बहुत कम कुटुंब होते हैं। उसमेंसे निकलना तो बहुत ही मुश्किल है। उसमें ज्यादा मुश्किल पड़ता है। जब कि (प्रतिकूलतामें) तो आदमी अगर थोड़ा भी समझदार हो न! तो कुटुंब प्रतिबंध छोड़नेमें देर नहीं लगे। लेकिन फिर भी अगर नहीं छोड़ता हो तो वह थोड़ा समझदार भी नहीं है, ऐसे लेना। स्पष्ट बात है (कि कुटुंब प्रतिबंधसे) संसार बढ़ता है। यहीं पर खुद नरक, निगोदमें जानेकी तैयारी करता है।

(यह हमारे चलते हुए पत्रमें क्या कहते हैं)? **'चाहे जितना उसका सुधार करें; तो भी एकांतवाससे जितना संसार क्षय होनेवाला है उसका सौव हिस्सा भी उस काजलगृहमें रहनेसे नहीं होनेवाला है।'** ऐसा है। चाहे जितना सुधार करो माने व्यवस्था रखो कि, हमें ऐसी व्यवस्था रखनी है। घरमें ज्ञान-ध्यानके लिये अलगसे कमरा रखना - ऑफिसकी जगह अलग रखना - लिखने-पढ़नेकी व्यवस्था अलग रखना। कुछ धार्मिक विषयमें लिखना-पढ़ना हो तो (इसका कमरा अलग रखना) - ऐसी-ऐसी चाहे जितनी व्यवस्था रखो (तो भी संसारक्षय होनेवाला नहीं है)। (यहाँ तो) आगे बढ़े हुए (तीव्र मुमुक्षुताकी भूमिकाके) विषयकी बात ली है। एकांतवास लिया है जो नीचेकी भूमिकामें लागू नहीं होता। बोधकी परिपक्वता आने पर एकांतवासमें जाये तब तो दिक्कत नहीं है। वरना इसके पहले एकांतवासमेंसे भी दूसरी-दूसरी line और दूसरे विकल्पमें चढ़ जानेकी संभावना ज्यादा है। क्योंकि एकांतमें तो ज्ञानसे ज्यादा ध्यानकी मुख्यता है। और ध्यान पदार्थ निर्णय (स्वरूप निर्णय) के पहले नहीं होता।

कृपालुदेवने २५४ (पत्रमें) मुमक्षुताका जो क्रम लिया है, उसमें आखरी stage पदार्थ निर्णयका लिया। वह पदार्थ निर्णय माने स्वपदार्थका निर्णय - स्वरूपका निश्चय। यह स्वरूप निश्चय माने स्वरूपकी पहचान - स्वरूपका भावभासन और इस स्वरूपके भावभासनमें अनंत सुखका समुद्र आत्मा! अनंत सुखका धाम! उसका प्रत्यक्ष अंशसे विश्वास आता है कि, 'है', इसकी हयाती 'है'। मेरेमें अनंत सुख हयात है। इसका विश्वास आता है। जैसे सर्पकी पूँछ दिखने पर, पूरा सर्प बिलमें या फर्नीचरके पीछे छिपा है (ऐसा विश्वास आ जाता है)। फिर कोई तर्क-कुतर्क नहीं करता है कि, अभी तो सिर्फ पूँछ ही देखी है, मुँह कहाँ देखा है? काटेगा तो मुँहसे ही न! ऐसा कोई साहस नहीं करता। वैसे एक अंशसे भी पूरा सुखसमुद्र (आत्मा) विश्वास-प्रतीतिमें आता है और तत्पश्चात् परिणाम दिशा बदलकर उस तरफ खिंचने लगते हैं। परिणाम हमेशा सुखकी ओर ही खिंचते हैं - (ये नियमबद्ध बात है)। फिर भले ही सुख न हो परन्तु

सुखकी कल्पना हुई हो तो भी खिंचते हैं। ये तो प्रगट अनुभव है। तो वास्तविक सुखका समुद्र दिखे और परिणाम उस तरफ खिंचे नहीं या दौड़े नहीं, ये बन ही नहीं सकता। इसके बाद सहज ध्यानकी दशा आती है। साथमें पुरुषार्थ होता है - साथमें वीर्यका उछाला होता है; इसके पहले ध्यान करने जाये तो कल्पनामें चढ़नेका अवकाश रहता है अथवा बहुभाग जीव कल्पनामें चढ़ जाते हैं और वे गृहीत मिथ्यात्वमें आ जाते हैं। अत: आत्माका लाभ होनेका तो दूर रहो - आत्मलाभ तो दूर रहो परन्तु नुकसान होनेकी परिस्थिति इसमें बहुत ज्यादा है। इसलिये कृपालुदेव यहाँ तो ऊपरकी (भूमिकाकी) बात लेते हैं।

कुटुंब है सो काजलकी कोठरी है, ऐसा लिया। एकांतवास है उसमें ऊपरका साधक-ऊपरकी भूमिकाका साधक जितनी साधना कर सकता है, इसके सौवें भागमें भी कुटुंबके साथ रहकर नहीं कर सकता। नीचेकी भूमिकावालोंको इस भूमिकाकी भावना भानी है कि, 'आगेकी (दशामें) ऐसी बात है और मेरी ऐसी दशा हो तो अच्छा', ऐसी भावना भानेकी बात है। ऊपरकी भूमिकाकी बात है, मुझे लागू नहीं होती है, इसलिये उपेक्षा करना ऐसा नहीं होना चाहिये।

मुमुक्षु :- नीचेकी भूमिकामें ऐसा प्रयत्न होना चाहिये कि जिससे ऊपरकी भूमिकामें आया जा सके।

पूज्य भाईश्री :- हाँ, प्रतिबंध छोड़नेका पुरुषार्थ करना चाहिये। जब तक कुटुंब प्रतिबंध नहीं छूटा हो तब तक कुटुंब प्रतिबंध छोड़नेका पुरुषार्थ होना चाहिये, तो ही वह कुटुंबरूपी कोठरीको सहजमात्रमें छोड़ सकेगा। वरना जंगलमें जानेके बाद, दीक्षा लेनेके पश्चात् वहाँ जाकर कुटुंबकी याद आयेगी। क्योंकि अंदर अभिप्राय और रस पड़े हैं, प्रतिबंध छूटा नहीं है।

अत: जिनमार्ग जो है वह तो व्यवस्थित है। पहले तू (कुटुंबके) बीच रहकर प्रतिबंधको छोड़, बादमें बाहरसे उसका त्याग करना। भीतरसे प्रतिबंध छोड़े बिना अगर तूने बाहरका त्याग कर लिया तो वहाँ (जंगलमें) जाकर (कुटुंब) याद आयेगा। भोग-उपभोग सब याद आयेगा, अनुकूलताएँ, सब प्रसंग स्मरणपट पर आने लगेंगे। पूरा picture दिखने लगेगा और परिणाम वहाँ लगे रहेंगे। इसलिये (जिनमार्गमें) व्यवस्थितरूपसे बात है। मुमुक्षुकी भूमिकामें पहले प्रतिबंध छूटनेके बाद ऊपरकी भूमिकामें एकांतवासमें जाये तो बाधा नहीं आयेगी। वरना एकांतवास है वह भी नुकसानका कारण हो सकता है।

'वह कषायका निमित्त है;...' काजलगृह ऐसा जो लिया वह कषायका निमित्त है। इसलिये थोड़ा-बहुत दाग तो लगेगा, लगेगा और लगेगा ही। अत: जो मुनिदशामें आते हैं, वे तो संपूर्ण निर्दोष होनेके पुरुषार्थमें आ गये हैं, इसलिये फिर उन्हें (कुटुंबके) साथ रहना पुसाता नहीं।

मुमुक्षु :- भाईश्री! निमित्त कहा है कारण नहीं कहा है।

पूज्य भाईश्री :- हाँ, निमित्त ही है, वास्तवमें तो निमित्तकारण ही है। वैसे (वास्तविक) कारण तो है नहीं। कोई (कषाय) कराता है या कुटुंब हमें मोह कराता है - ऐसा नहीं है। ये तो अभी बात चली न कि, कुटुंबवाले धुतकारते हो तो भी खुद चिपककर बैठा रहता है। वे कहाँ (मोह) कराते हैं? करता है तो खुद ही न! प्रतिकूल संयोगोंमें भी खुद ही तो करता है, दूसरे क्या करते हैं? अनुकूलतावाले (प्रतिबंध जल्दीसे) नहीं छोड़ सकते, ये इसके लिये तो स्वाभाविक है कि, कुटुंबियोंको बहुत दु:ख होगा। परन्तु जिसे तीव्र कुटुंब प्रतिबंध होता है वह प्रतिकूलतामें भी छोड़ नहीं सकता। कुटुंब प्रतिबंधको नहीं छोड़ सकता। कुटुंबको छोड़नेकी बात नहीं है, कुटुंब प्रतिबंधको नहीं छोड़ सकता। (उसको ऐसा ही रहा करता है कि), 'उसको ऐसा लगेगा और उसको वैसा लगेगा, उसको ऐसा लगेगा

और उसको वैसा लगेगा, ऐसा करुँगा तो ऐसा लगेगा और ऐसा करूँगा तो वैसा लगेगा।' सामनेवालेको क्या लगेगा इसकी चिंता होती है, मेरा क्या होगा इसकी चिंता नहीं होती। ऐसी परिस्थिति है। अर्थात् वे तो निमित्त ही हैं। निमित्त कुछ करे, ये तो प्रश्न (ही) नहीं है।

(आगे कहते हैं), **'मोहके रहनेका अनादिकालीन पर्वत है।'** मोहके रहनेका अनादिकालीन पर्वत है, ऐसा कहा। पर्वत कभी खाली नहीं होता। पर्वतमेंसे ट्रक भर-भरके माटी एवं पत्थर ले जाते हैं, फिर भी पर्वत खाली होता है क्या? ५००-१००० साल (हो गये हो फिर भी) वैसा का वैसा लगता है। वैसे (कुटुंब है वह) मोहका बड़ा पर्वत है।

'वह प्रत्येक अंतर गुफामें जाज्वल्यमान है।' (अर्थात्) परिणामकी गुफाको देखा जाये तो भीतरमें बहुत जमी हुई बात है। मुमुक्षुकी भूमिकामें जब जीव कुटुंब प्रतिबंध छोड़नेका पुरुषार्थ करता है तब समझमें आता है कि, इसमें कितना पसीना उतर जाये, ऐसी यह बात है! कोई सरल बात नहीं है। संसारमेंसे छूटना - निकलना ये बहुत कठिन है। इसका कारण यह है कि, जीव कुटुंब प्रतिबंध नहीं छोड़ सकता। वह छोड़ दे तो तो बहुत आगे निकल जाये! बहुत बड़ा लाभ कर सके, बहुत बड़ा लाभ प्राप्त कर सके!! लेकिन उसे छोड़नेमें पुरुषार्थ चाहिये, अच्छा-खासा पुरुषार्थ चाहिये। प्रयत्न करने पर वह समझमें आ सकता है कि, इसमें कितना पुरुषार्थ चाहिये। इसकी practical side तो प्रयत्न करने पर ही समझमें आती है कि, भीतरमें अपनत्वके संस्कार बहुत जमे हुए हैं। इसकी परिणति जमी हुई है। वह परिणति तो समझमें ही नहीं आती।

*

(शेष प्रवचन अगले अंकमें..)

अरे! आत्मा! अंतरमें नज़र करके देख तो सही! कि तू कौन है? तू सर्वसे भिन्न एक आत्मा हो! सिवा कुछ नहीं। तो फिर विचार कर कि, यह क्या खेल-तमाशा लगा रखा है? और किस लिये लगा रखा है? कब तक ऐसा करते रहना है? क्या अभी भी तुझे इन व्यर्थ मिथ्याभावोंसे थकान नहीं लगी? इस अग्निज्वाला (विकल्पोंकी परंपरा) में शांतिका अनुभव हो रहा है? जलनमेंसे शांति या शीतलता प्राप्त हो सकती है क्या? तेरे निज कल्याणकी जवाबदारीका विस्मरण क्यों करते हो? और भान भूलकर प्रवृत्ति करते हो? और बेजवाबदारकी कीमत कितनी? बेजवाबदारीसे वर्तनेसे उसका फल भी भोगना ही पड़ेगा।

- पूज्य भाईश्री शशीभाई

('अनुभव संजीवनी' बोल-१९५०)

आभार

'स्वानुभूतिप्रकाश' (सितंबर-२०२४, हिन्दी एवं गुजराती) के इस अंककी समर्पणराशि
१) श्रीमती वंदना रणधीर घोषाल, कोलकाता और
२) श्रीमती इंदु सरावगी परिवार, कोलकाता
की ओर से ट्रस्टको साभार प्राप्त हुई है। अतएव यह पाठकों को आत्मकल्याण हेतु भेजा जा रहा है।

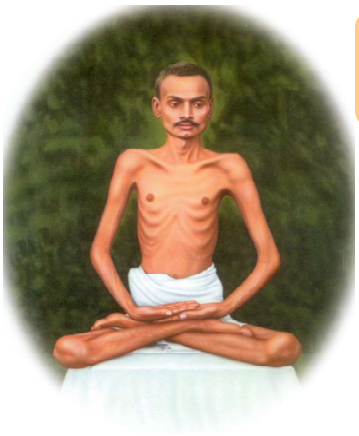

परम कृपालुदेव श्रीमद् राजचंद्रजी द्वारा लिखित आध्यात्मिक पत्रो

पत्रांक - ३७६

बंबई, वैशाख वदी, १९४८

श्री स्तंभतीर्थवासी जिज्ञासुके प्रति,

श्री मोहमयीसे अमोहस्वरूप ऐसे श्री रायचंद्रके आत्मसमानभावकी स्मृतिसे यथायोग्य पढ़ियेगा।

अभी यहाँ बाह्यप्रवृत्तिका योग विशेषरूपसे रहता है। ज्ञानीकी देह उपार्जन किये हुए पूर्व कर्मोंको निवृत्त करनेके लिये और अन्यकी अनुकंपाके लिये होती है।

जिस भावसे संसारकी उत्पत्ति होती है, वह भाव जिनका निवृत्त हो गया है, ऐसे ज्ञानी भी बाह्यप्रवृत्तिकी निवृत्ति और सत्समागममें रहना चाहते हैं। उस योगका जहाँ तक उदय प्राप्त न हो वहाँ तक अविषमतासे प्राप्त स्थितिमें रहते हैं, ऐसे ज्ञानीके चरणारविंदकी पुनः पुनः स्मृति हो आनेसे परम विशिष्टभावसे नमस्कार करते हैं।

अभी जिस प्रवृत्तियोगमें रहते हैं वह तो बहुत प्रकारकी परेच्छाके कारणसे रहते हैं। आत्मदृष्टिकी अखण्डता उस प्रवृत्तियोगसे बाधाको प्राप्त नहीं होती। इसलिये उदयमें आये हुए योगकी आराधना करते है। हमारा प्रवृत्तियोग जिज्ञासुको कल्याण प्राप्त होनेमें किसी प्रकारसे बाधक है।

जो सत्स्वरूपमें स्थित है, ऐसे ज्ञानीके प्रति लोकस्पृहादिका त्याग करके जो भावसे भी उनका आश्रित होता है, वह शीघ्र कल्याणको प्राप्त होता है, ऐसा जानते हैं।

निवृत्तिको, समागमको अनेक प्रकारसे चाहते हैं, क्योंकि इस प्रकारका जो हमारा राग है उसे हमने सर्वथा निवृत्त नहीं किया है।

कालका कलिस्वरूप चल रहा है, उसमें जो अविषमतासे मार्गकी जिज्ञासाके साथ, बाकी दूसरे जो अन्य जाननेके उपाय हैं उनके प्रति उदासीनता रखता है वह भी ज्ञानके समागममें अत्यंत शीघ्रतासे कल्याणको प्राप्त होता है, ऐसा जानते हैं।

कृष्णदासने जगत, ईश्वरादि संबंधी जो प्रश्न लिखे हैं वे हमारे अति विशेष समागममें समझने योग्य है। इस प्रकारका विचार (कभी कभी) करनेमें हानि नहीं है। उनके यथार्थ उत्तर कदाचित् अमुक काल तक प्राप्त न हों तो इससे धीरजका त्याग करनेके प्रति जाती हुई मतिको रोकना योग्य है।

अविषमतासे जहाँ आत्मध्यान रहता है ऐसे 'श्रीरायचन्द्र' के प्रति बार बार नमस्कार करके यह पत्र अब पूरा करते हैं।

*

पत्रांक - ३७७

बंबई, वैशाख, १९४८

योग असंख जे जिन कह्या, घटमांही रिद्धि दाखी रे ।
नव पद तेमज जाणजो, आतमराम छे साखी रे ।।

(अनुसंधान पृष्ठ संख्या १७ पर..)

'द्रव्यदृष्टि प्रकाश'में से 'सम्यक्ज्ञानकी प्रवृत्ति' सम्बन्धित पूज्य श्री निहालचंद्रजी सोगानीजीके चयन किये गये वचनामृत

ज्ञानी को राग बोझारूप लगता है। भारी चीज़ के ऊपर हलकी चीज़ हो तो बोझा नहीं लगता, लेकिन हलकी चीज़पर तो भारी चीज़ का बोझा लगता ही है। ऐसे ज्ञानी को राग बोझारूप लगता है, खटकता है, खुँचता (सालता) है। (४५०)

*

विकल्पात्मक निर्णय छूट कर स्वआश्रित ज्ञान उघड़ता है। जो ज्ञान सुख को देता है, वही ज्ञान है। (४६२)

*

विकल्प उठे तो ऐसा कहे कि 'हे गुरु! आप मेरे सर्वस्व हैं' (लेकिन) उसी समय अभिप्राय तो यह कहता है कि 'मुझे आपकी ज़रूरत नहीं,' 'मेरा सर्वस्व तो मेरे पास है' इतना विश्वास और (स्वरूप का) उल्लास तो ज़रूर आजाना चाहिए कि (मेरे कार्य के लिए) मुझे देव-गुरु की भी ज़रूरत नहीं; सुनने-करने की भी ज़रूरत नहीं, मेरा कार्य मेरे (अंतर्-पुरुषार्थ) से ही होगा। (४६८)

*

स्वाध्याय आदि का विकल्पवाला ज्ञान है सो तो आकुलता के साथ अभेद है; और सहजज्ञान त्रिकालीस्वभाव के साथ अभेद है। (जिसमें निराकुलता है।) (५७०)

*

'मैं निष्क्रिय त्रिकाली हूँ' - इस चश्मे को लगाकर देखने से सभी गुण अपना कार्य करते हैं, इसमें सहज ज्ञान और पुरुषार्थ आ जाता है।

(सहज स्वरूप में) साधक-बाधक कोई नहीं है, यह चश्मा लगाने से अर्थात् ध्रुव की मुख्यता में सब यथार्थ दिखता है। साधक-बाधकभाव पर्याय में है, 'मैं तो ध्रुव हूँ।' (६०१)

*

'प्रति समय का परिणमन' (- व्यवहार) उस काल में मात्र जाना हुआ ही प्रयोजनवान है - बस! इतनी ही मर्यादा है। (६१४)

*

ज्ञान की पर्याय ज्ञेय के साथ संबंध रखती है। ज्ञायक का संबंध किसी के साथ नहीं। ('मैं असंग तत्त्व हूँ।') (६१९)

*

सम्यग्दृष्टि की राग के प्रति पीठ है, (लेकिन) मुख नहीं।

'मैं' तो सदा अंतर्मुख हूँ, 'मेरा' विकल्प के साथ भी संबंध नहीं है; तो दूसरों की तो क्या बात? आत्मा ही निज वैभव है। (६२४)

*

पूज्य बहिनश्रीकी तत्त्वचर्चा

मंगलवाणी-सीडी-१४-C

मुमुक्षु :- श्रीमद् राजचंद्रजी के वचनामृत में, दूसरा कुछ मत खोज, एक सत्पुरुष को खोजकर उनके चरणकमल में सर्व भाव अर्पण कर दे, फिर तुझे मोक्ष नहीं मिले तो मेरेसे ले जाना। इसमें विशेष स्पष्टता..

समाधान :- स्वानुभूति हुयी है, मार्ग को जानते हैं इसलिये सत्पुरुष को खोज। वे तुझे सब कहेंगे। तुझे अंतरसे कुछ समझ में नहीं आता। एक सत्पुरुष को खोज। सत्पुरुष जो कहे उसका पूरा आशय ग्रहण कर ले। मोक्ष मेरे पाससे ले जाना, उसका अर्थ तुझे मोक्ष मिलनेवाला ही है। सत्पुरुष को तूने ग्रहण किया और सत्पुरुष को तूने पहचाना तो मार्ग तुझे मिलेगा ही और मोक्ष प्रगट होगा ही। इसलिये मोक्ष नहीं मिले तो मेरे पाससे लेना उसका अर्थ यह है कि तुझे मोक्ष मिलनेवाला ही है। ऐसा कहते हैं।

अनन्त कालसे सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं हुआ है तो या तो देव अथवा गुरु मिले और अपना उपादान तैयार हो तो निमित्त-उपादान का सम्बन्ध है। देशनालब्धि प्रगट हो इसलिये अवश्य सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है। इसलिये देव-गुरु की एकबार देशनालब्धि प्राप्त हो तो एक निमित्त उसे मिलता है, होता है अपने उपादानसे लेकिन निमित्त के साथ ऐसा सम्बन्ध होता है। इसलिये तू एक सत्पुरुष को खोज तो उसमें तुझे सब मिल जायेगा। सत्पुरुष तुझे मिले और तुझे प्राप्त हुए बिना रहे ऐसा नहीं बनता, अवश्य प्राप्त होगा। क्योंकि तुझे सत्पुरुष पर भक्ति आयी और अर्पणता आयी, तूने सत्पुरुष को पहचाना तो तुझे आत्मा की पहचान हुए बिना रहेगी नहीं। जो भगवान को पहचाने वह स्वयं को पहचानता है, स्वयं को पहचानता है वह भगवान को पहचानता है। अपने द्रव्य-गुण-पर्याय को पहचाने, वह भगवान के द्रव्य-गुण-पर्याय को पहचानता है। भगवान के द्रव्य-गुण-पर्याय को पहचाने वह स्वयं को पहचानता है। इसलिये तू सत्पुरुष को पहचान तो तुझे आत्मा की पहचान हुए बिना रहेगी नहीं। इसलिये अवश्य तुझे स्वानुभूति की प्राप्ति होगी और अवश्य मोक्ष मिलेगा, ऐसा निमित्त-उपादान का सम्बन्ध है। होता है अपनेसे, परन्तु अनादि कालसे अनजाना मार्ग है तो उसे प्रथम बार सम्यग्दर्शन हो और सम्यग्दर्शन की तैयारी होती है, तब उसे अवश्य देव अथवा गुरु का निमित्त होता है। इसलिये तू सत्पुरुष को खोज ऐसा कहते हैं।

तू सत्पुरुष को पहचान तो तुझे आत्मा की पहचान हुए बिना रहेगी नहीं, ऐसा उसका अर्थ है। ऐसा निमित्त-उपादान का सम्बन्ध है। जो सत्पुरुष को पहचानता है वह स्वयं को पहचानता है, स्वयं को पहचानता है वह सत्पुरुष को पहचानता है। .. ऐसा बनता ही नहीं। खुदने सत्पुरुष को ग्रहण किया और पहचाना कब कहा जाये? कि आत्मा की प्राप्ति हो तो। और नहीं हो तो उसने सत्पुरुष को पहचाना नहीं और सत्पुरुष को ग्रहण किया नहीं। उनका आशय ग्रहण नहीं किया।

मुमुक्षु :- पंद्रह भव में मोक्ष मिल जाये, ऐसा वचन दिया है।

समाधान :- पंद्रह भव में तुझे अवश्य मोक्ष की प्राप्ति होगी। तुझे अवश्य पंद्रह भव में तो होगा ही। उतना उसका

काल बताया है। अन्दरसे आत्मा की तैयारी होतो पंद्रह भव में तो मोक्ष मिलेगा ही। फिर संसार में उससे अधिक समय नहीं रहेगा। अप्रतिहत धारासे ऐसे ही चला तो पंद्रह भव में अवश्य मोक्ष होगा। फिर एक बार दरार हो गयी, भेदज्ञान हो गया फिर पहले की भाँति व्याप्त नहीं होता, भिन्न ही रहता है। एक बार सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो तो अवश्य मोक्ष होता है और वैसी ही उसकी तैयारी रहे तो पंद्रह भव में होता है।

मुमुक्षु :- स्वानुभूति दशा वैसे तो वचनातीत है, परन्तु आपने जो इशारा किया है उसमें थोड़ा विशेष माताजी!

समाधान :- विशेष में क्या, वह कोई वचन की बात नहीं है। आनन्द तरंग स्वानुभूति में आनन्द उछलता है। उसका अर्थ, उस विषय में लिखा है। स्वानुभूति में आनन्द तरंग में डोल रहा है। आत्मा को जो अद्भुत स्वभाव है, आत्मा का अपूर्व स्वभाव, आश्चर्यकारी स्वभाव और जो आनन्दकारी, जो आत्मा का आनन्द गुण है उसमें आत्मा आनन्दतरंग में डोल रहा है। आनन्द द्रव्य-गुण-पर्यायसे भरपूर जो आत्मा है, अनन्त गुण और अनन्त पर्यायोंसे भरपूर आत्मा है, उसका जैसा स्वरूप है वैसा स्वरूप उसे स्वानुभूति में प्राप्त होता है और आनन्द तरंग में डोल रहा है। वह जगतसे भिन्न और न्यारा है। वचन में आये ऐसा वह आनन्द नहीं है। इतना कह सकते हैं कि आनन्द तरंग में डोलता है। बाकी अनन्त गुणविभूति उसे प्रगट हुयी है। उसमें वह डोल रहा है। मुख्यरूपसे आनन्द गुण होता है इसलिये आनन्द तरंग में डोलता है। इसलिये वह कूटस्थ है और कोई कार्य नहीं करता है, ऐसा नहीं है। उसमें उसकी पर्याय भी परिणमति है। पर्याय के तरंग उछलते हैं।

द्रव्य पर दृष्टि उसमें उसकी पर्याय पर दृष्टि नहीं है। उसकी दृष्टि नहीं है परन्तु स्वानुभूति में पर्याय नहीं है ऐसा नहीं है। उसकी पर्याय के तरंग अन्दर उछलते हैं। आनन्द के तरंग उछलते हैं और वह वचनसे अतीत है। वचन में आये ऐसा नहीं है। द्रव्य-गुण-पर्यायसे शोभित आत्मा है और वह अपूर्व है, आनन्द तरंग में डोलता है और वह अद्भुत है, आश्चर्यकारी है। जगतसे वह भिन्न तत्त्व है।

*

(तत्त्वचर्चाका शेष अंश आगेके अंकमें...)

(पृष्ठ संख्या १४ से आगे..)

आत्मस्थ ज्ञानी पुरुष ही सहजप्राप्त प्रारब्धके अनुसार प्रवृत्ति करते हैं। वास्तविकता तो यह है कि जिस कालमें ज्ञानसे अज्ञान निवृत्त हुआ उसी कालमें ज्ञानी मुक्त है। देहादिमें अप्रतिबद्ध है। सुख दुःख हर्ष शोकादिमें अप्रतिबद्ध है। ऐसे ज्ञानीको कोई आश्रय या आलम्बन नहीं है। धीरज प्राप्त होनेके लिये उसे' ईश्वरेच्छादि' भावना होना योग्य नहीं है। भक्तिमानको जो कुछ प्राप्त होता है, उसमें कोई क्लेशका प्रकार देखकर तटस्थ धीरज रहनेके लिये वह भावना किसी प्रकारसे योग्य है। ज्ञानीके लिये 'प्रारब्ध' 'ईश्वरेच्छादि' सभी प्रकार एक ही भावके-सरीखे भावके हैं। उसे साता-असातामें कुछ किसी प्रकारसे रागद्वेषादि कारण नहीं है। वह दोनोंमें उदासीन है। जो उदासीन है वह मूल स्वरूपमें निरालम्बन है। उसकी निरालम्बन उदासीनताको ईश्वरेच्छासे भी बलवान समझते हैं।

'ईश्वरेच्छा' शब्द भी अर्थान्तरसे जानने योग्य है। ईश्वरेच्छारूप आलम्बन आश्रयरूप भक्तिके लिये योग्य है। निराश्रय ज्ञानीको तो सभी समान है अथवा ज्ञानी सहज परिणामी है, सहजस्वरूपी है, सहजरूपसे स्थित है, सहजरूपसे प्राप्त उदयको भोगते हैं। सहजरूपसे जो कुछ होता है, वह होता है; जो नहीं होता वह नहीं होता है। वे कर्तव्यरहित है, उनका कर्तव्यभाव विलीन हो चुका है। इसलिये आपको यह जानना योग्य है कि उन ज्ञानीके स्वरूपमें प्रारब्धके उदयकी सहज प्राप्ति अधिक योग्य है। ईश्वरमें किसी प्रकारसे इच्छा स्थापित कर उसे इच्छावान कहना योग्य है। ज्ञानी इच्छारहित या इच्छासहित यों कहना भी नहीं बनता, वे तो सहजस्वरूप हैं।

*

(पृष्ठ संख्या १९ से आगे..)

वहाँ जीवको जाँच शुरू करनी चाहिये। ऐसा क्यों? किस तरह अवलोकन करना (ये कहते हैं)। वहाँ आप जाँच शुरू करो कि, इसमें सुख कहाँ है? इसमें मैं कहाँ हूँ? मेरा अस्तित्व कहाँ है? मेरी मौजूदगी कहाँ है? और मेरा सुख कहाँ है? यदि इसमें सुख नहीं है तो इसमें इष्टपना-अच्छापन लगनेका क्या कारण है? यदि इसमें अच्छापन लगा और वास्तवमें अच्छापन नहीं होने पर भी अच्छा लग रहा है तो ऐसी जो कल्पना हुई इसमें धोखा खा गया इसका क्या? धोखा खाना यह कोई सामान्य बात नहीं है, लेकिन यही कल्पना अनन्त भवोंका बीज़ है।

जैसे किसीने कहा कि, यह चीज़ कैंसरका कारण है। (तो) कोई नहीं खायेगा। जैसे कि ये विरुद्ध आहार। विरुद्ध आहारका अर्थ किसी एक चीज़के साथ दूसरी चीज़को ग्रहण करना ठीक न हो, उसे विरुद्ध आहार कहते हैं। (जैसे कि) दूधमें गुड़ मिलाकर नहीं खाना चाहिये। (क्योंकि) वह विरुद्ध आहार है। यह रोगकी दृष्टिसे बात है। लोग दूधके साथ गुड़ इसलिये नहीं खाते हैं, ठीक वैसे ही लोग दूधके साथ **fruit** नहीं खाते क्योंकि विरुद्ध आहार कहलाता है। जो लोग बिमारीके कारणकी खोज करते हैं उनलोंगोंका ऐसा अनुमान है कि, विरुद्ध आहार करना यह बहुतसी वज़होंमें से एक वज़ह है। इसतरह यह जो कल्पनारूप विरुद्धता है वह अनन्त भवका कैंसर है!! यह समझ लेना। सिर्फ सुखबुद्धिपूर्वक रस लेता है इसमें क्या? तनिक-सा रस ले लिया इसमें क्या? ऐसा हमें लगता है। बहकावेमें आ गया तो आ गया थोड़ी देर, किन्तु मुझे अच्छा तो महसूस हुआ, ठीक तो लगा, अच्छा लगा, आनंद आया, मज़ा तो आया! यहाँ कहते हैं कि, यह जो सुखबुद्धि है, सुखके आभासपूर्वक जो रस लिया गया है - यह कल्पना ही भवभ्रमणका कारण है। जन्म-मरणका कारण ही यह है। यानी ऐसी जो मिथ्याबुद्धि है - जहाँ सुख नहीं है, जहाँ अपना अस्तित्व नहीं है, वहाँ बिना जाँच किये यूँ ही अंधत्वपूर्वक सुखका अनुभव करता है तो ऐसी कल्पना-भ्रमणा जीवको भवभ्रमणका कारण होती है।

गुरुदेवश्री प्रवचन करते हुए कभी-कभी बहुत स्पष्ट बात करते थे कि, जीव संसारमें पाँच इन्द्रियोंके विषयोंमें फँसा हुआ है। यानी इसी सुखबुद्धिपूर्वक फँसा हुआ है। कोई जीव यदि वैराग्य अवधारण करता है तो कषायकी मंदतामें फँसता है। पंचेन्द्रियके विषयमें कही भी किसी भी (पदार्थ) में या अनुकूलतामें सुख, ये सब अशुभमें सुखबुद्धि है या इष्टबुद्धि है, हितबुद्धि है। अब कोई वहाँसे वैराग्य अवधारण करता है तो वह शुभमें फँसता है। गुरुदेवश्री दोनों जगहसे जीवको बचाना चाहते हैं कि, ये दोनों ठिकाने फँसनेके ठिकाने हैं। एक अशुभ और एक शुभ। कहते हैं, निकल जा वहाँसे! दोमें से एक भी तेरे रसका विषय नहीं होना चाहिये। जब ही तेरा कल्याण होगा। ज्ञानके आधारसे ही ज्ञान होगा और वैराग्य होगा, रागके आधारसे ज्ञान भी नहीं होगा और वैराग्य होनेका तो सवाल ही नहीं है। चाहे राग तीव्र हो चाहे राग मंद हो। रागके आधारसे राग ही तीव्र होगा, रागरस वृद्धिगत होगा। ज्ञानके आधारसे ज्ञान होगा और रागरस मिटेगा। अतः जहाँ तक आधारबुद्धिका विषय है वहाँ जीवको ज्ञानका ही आधार (लेना है)। मात्र ज्ञानका आधार, 'ज्ञानमात्र' जो कहा है उसका अर्थ है कि मात्र ज्ञानका ही आधार! अवलंबनका विषय एक ही रहना चाहिये। शेष सब छोड़ देना - इसका नाम वैराग्य है।

(प्रवचनांश...श्री 'बहिनश्रीके वचनामृत' दिनांक ०८-११-८६, वचनामृत - ३,४, प्रवचन क्र.- ०५, ४८ मिनट पर)

ज्ञान और वैराग्यकी संधि !!

-पूज्य भाईश्री शशीभाई

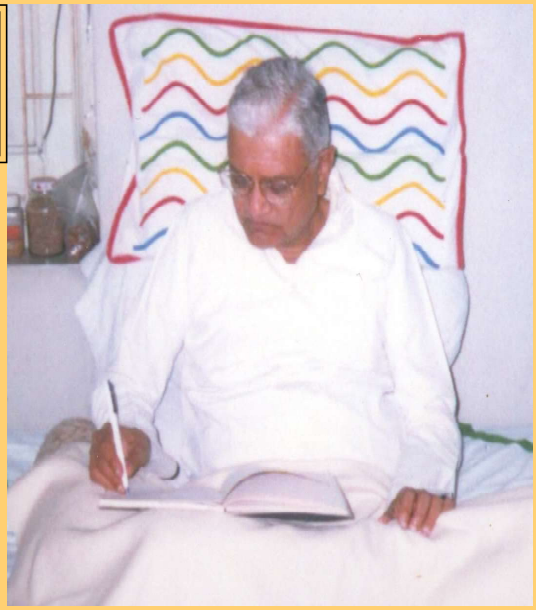

यथार्थ ज्ञान और यथार्थ वैराग्यको समझना चाहिये, पहचान होनी चाहिये और अपनेमें चाहे दूसरोंमें इसीको तुल्य देना चाहिये। वरना अन्यथा माननेकी भूलसे जीवको अवश्य नुक़सानका कारण होता है। निश्चितरूपसे नुक़सानका कारण होगा। ज्ञान-वैराग्यके विषयमें इस वचनामृतमें बहुत सुंदर स्पष्टता आयी है।

ऐसा नहीं है कि, केवल ज्ञान कर लो, वैराग्य हो-न हो कोई बात नहीं! ऐसा नहीं चलता। वास्तवमें आत्मार्थीकी भूमिकाको देखे तो नीरसता तो प्रथम आनी चाहिये। यदि आत्मार्थीकी भूमिकाके विषयमें विचार करे तो सर्व संयोगोंके प्रति, सर्व उदयमान प्रसंगोंके प्रति नीरसता तो पहले आनी चाहिये, तभी तो ज्ञानप्राप्ति होगी। ऐसे क्यों लेना पड़ता है? (क्योंकि) अनादिसे हमारी ज्ञानकी पर्याय रागरस और कषायरसके कारण मलिन रही है। यानी कि ज्ञानमें मल लगा है - रागरसरूपी मल लगा है। अब आत्मार्थीको जो आत्मस्वरूपकी पहचान करनी है सो तो प्रथम ज्ञानदर्पणमें होगी एवं ज्ञानसे होगी। अतः इस दर्पणको स्वच्छ करनेके लिये प्रथम हमें रागमलको कम करना पड़ेगा।जैसे अभी पूछा गया कि, आत्मप्राप्तिके हेतुपूर्वक वैराग्य या नीरसपनामें आये तो? जब तो योग्य है। क्यों योग्य है? कि, हमारे पास बुद्धि तो है, क्षयोपशम भी है फिर भी आत्माकी पहचान नहीं हो रही है इसका क्या कारण है? कि, मलिनबुद्धि। उघाड है, क्षयोपशम काफ़ी है। अपना प्रयोजनभूत कार्य करनेके लिये संज्ञी पंचेन्द्रियके पास पर्याप्त क्षयोपशम है, परन्तु ज्ञानकी मलिन पर्यायके कारण अपना ही स्वरूप, ज्ञानको अपना ही स्वभाव और अपना स्वरूप दिखता नहीं है। या हमें ज्ञानमें ज्ञानवेदन होनेके बावजूद भी पकड़में नहीं आ रहा है। या समझो ज्ञानको स्वयंका अवलंबन कैसे लेना? अंतर्मुख कैसे होना - स्वसन्मुख कैसे होना? यह समझमें नहीं आता है। स्वसन्मुख होना चाहिये - यहाँ तक तो समझमें आता है। कहाँ तक समझमें आता है? कि, स्वसन्मुख होना है परन्तु कैसे होना? यह नहीं आता। क्योंकि वह इसकी समझमें आ नहीं रहा है और इसका कारण अपनी ही रागरसकी मलिनता बाधारूप होती है। रागरसकी तीव्रता बाधारूप होती है।

(अतः) जीवको प्रथम वैराग्यका उपदेश है कि, तू वैराग्यसमेत् सत्संग कर! यदि रागरसमें रहकर सत्संग करेगा तो बाह्य पदार्थोंमें तेरी सुखबुद्धि है वह सत्संगको निष्फल कर देगी। जिन्हें सत्संग प्राप्त होते हुए भी निष्फलता मिलती है इसके कई कारणोंमें से यह एक कारण है। श्रीमद्जीने (सत्संगकी निष्फलताके) पाँच कारण पत्रांक-६०९में लिये हैं। मिथ्याआग्रह, स्वच्छंद दो बातें ली हैं और तीसरा लिया है - सुखबुद्धि! परमें सुखबुद्धि, चौथा कारण लिया है ज्ञानीके प्रति अत्यंत भक्तिका अभाव और पाँचवां एक (लिया है) प्रमाद। मिथ्याग्रह, स्वच्छंद, प्रमाद, परमें सुखबुद्धि और सत्पुरुषके प्रति भक्तिका अभाव। ये पाँच कारण जीवको स्वस्वरूपकी पहचान नहीं होनेमें या सत्समागम प्राप्त होने पर भी निष्फल होनेके कारण हैं। ऐसी बात ६०९ नंबरके पत्रमें ली है। इनमें से ये वैराग्यका अभाव होना यह बाधारूप होता है।

जिस पदार्थमें और जिस विषयमें इष्टपना लगकर रस आता हो, अच्छा लगनेके साथ रस आता हो,

(अनुसंधान पृष्ठ संख्या १८ पर..)

REGISTERED NO. : BVHO - 253 / 2024-2026
RENEWED UPTO : 31/12/2026
R.N.I. NO. : 70640/97
Published : 10th of Every month at BHAV.
Posted at 10th of Every month at BHAV. RMS
Total Page : 20

'सत्पुरुषों का योगबल जगत का कल्याण करे'

... दर्शनीय स्थल...

श्री शशीप्रभु साधना स्मृति मंदिर
भावनगर

स्वत्वाधिकारी श्री सत्श्रुत प्रभावना ट्रस्ट की ओर से मुद्रक तथा प्रकाशक श्री राजेन्द्र जैन द्वारा अजय ऑफसेट, १२-सी, बंसीधर मिल कम्पाउन्ड, बारडोलपुरा, अहमदाबाद-३८० ००४ से मुद्रित एवम् ५८० जूनी माणिकवाडी, पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी मार्ग, भावनगर-३६४ ००१ से प्रकाशित
सम्पादक : श्री राजेन्द्र जैन -09825155066

Printed Edition : **3709**
Visit us at : http://www.satshrut.org

If undelivered please return to ...
Shri Shashiprabhu Sadhana Smruti Mandir
1942/B, Shashiprabhu Marg, Rupani,
Bhavnagar - 364 001

mayur prodesai 9374825041